ॐ

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री जैनमत दिग्दर्शन त्रिंशिका

प्रथम भाग

रचयिता

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री मन्नालालजी
महाराज की सम्प्रदायानुयायी पंडित मुनि श्री
१००८ श्री देवीलालजी महाराज

प्रकाशक—

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति

रतलाम

प्रथमावृत्ति १०००

मूल्य ~)॥

वीराब्द २४५३
विक्रम १९८३

॥ भूमिका ॥

****** ** स ** ****** थे पाठकों को विदित हो कि इस संसार मंडल में सनत (निरंतर) पर्यटन करते हुए प्राणियों को अर्थात चार गति और चौरासी लक्ष योनि में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को पूर्व पुण्योदय की प्रधानता के कारण से ही मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है किन्तु मनुष्य जन्मकी प्राप्तिसे ही पूर्ण योग्यता नहीं समझी जाती कारण कि इस के साथ में आर्यभूमि, सुकुलोत्पत्ति, दीर्घायु, पूर्णइन्द्री, आरोग्य शरीर सुगुरु सेवा तथा शास्त्र श्रवण इत्यादि सामग्री का होना भी इस में आवश्यक है तथापि हेय (त्यागना) उपादेय (ग्रहण करना) पदार्थों का जब तक यथावत् ज्ञान नहीं है तब तक मनुष्य जन्म आदि उपरोक्त पाई हुई सम्पदा सब ही मूर्ख स्त्री के शृंगारवत् अप्रशंसनिय है क्योंकि मूर्ख स्त्री का शृंगार चतुर स्त्री के सामने कदापि प्रशंसनिय नहीं हो सक्ता। ऐसे ही हेय उपादेय वस्तु के ज्ञान के विनाय उक्त मनुष्य जन्म आदि सब सामग्री का होना विद्वानों के सामने कदापि प्रशंसनिय नहीं हो सक्ता, क्योंकि पण्डित जन यथावत् ज्ञान के होने से ही उक्त सम्पदाका पूर्ण योग्यता समझते हैं वरना नहीं। इस लिये पाठकों को हेय उपादेय वस्तुका ज्ञान अवश्यमेव ही करना चाहिये और इसी हेतु का आगे लेकर सज्जनों से निवेदन किया जाता है कि यदि आप इस ग्रन्थको अभिमन करना चाहते हैं तो "जैन मत दिग्दर्शन शिक्षा" नामकी इस छोटीसी पुस्तक के प्रथम भागको शुद्ध अन्तःकरण से ध्यान पूर्वक पढें ताकि आपको हेय उपादेय वस्तुका ज्ञान अवश्य ही हो जाय। इति।

" नम्र निवेदन "

प्रिय पाठकों से निवेदन किया जाता है कि आप इस पुस्तक का मनन पूर्वक पढ़िये और अपनी मित्र मण्डली को भी पढ़नेका आग्रह करिये। इस पुस्तकके लिखने का मुख्य उद्देश्य यह है कि आप इस तात्विक बुद्धिसे अवलोकन करें जिस से आपको तत्वज्ञानका बोध अवश्य ही हो जाय इस पुस्तक में किसी भी व्यक्ति का किसी धर्मका खण्डन मण्डन वादविवाद का पक्ष नहीं लिया गया है केवल सत्यासत्य वस्तुका निर्णय रूप दिग्दर्शन कराया है। इस लिये इस पुस्तक का विषय जैन अजैन आदि सार्वजनिक के सद् उपयोगी और लाभदायक होगा। आशा है कि सज्जन पुरुष इस पुस्तकको अवलोकन कर मेरे परिश्रम को सफल करेंगे और जो कहीं इस में त्रुटियां रह गई हों उन्हें अपने उदार चित्त से सुधार कर अपनी महत्वता का परिचय देते हुये मुझे क्षमा करेंगे। यह मुझे पूर्ण आशा है।

इस पुस्तकको लिखने का परिश्रम श्रीयुत चांदमलजी मारू मंत्री श्री वर्धमान पुस्तकालय मंदसोर वालोंने उठाया जिस के लिये मैं बड़ा आभारी हूँ।

प्रकाशक–

❀ ग्रंथ रचने का मुख्य कारण ❀

इस ग्रन्थ रचने का मुख्य प्रयोजन यह है कि जैनागम के ज्ञाता श्रीमद्जैनाचार्य परम पूज्य श्री मन्नालालजी महाराजकी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मुनि श्रीदयालालजी महाराज ग्रामानुग्राम विचरते हुए जावरे पधारे। वहां मन्दसौर श्रीसंघकी अत्याग्रह पूर्वक चातुर्मासकी विनती मंजूर होने पर मन्दसौर की ओर विहार किया और वहां जीवागंजके विशाल जिनेन्द्रभवन में सुख शांति पूर्वक विराजे। पश्चात् महाराज श्रीकी सेवामें बहुत से जैन व जैनेतर व्याख्यान आदि में ध्यान लगा और वचनामृत को श्रवण कर प्रमुदित होने लगे और धर्मध्यान भी समयानुसार अच्छा होने लगा।

महाराज श्री की सभा में व्याख्यान के अतिरिक्त कई सज्जन उपस्थित होते थे उन में से श्रीयुत वरदीचंदजी सोनगरा जैन मन्दिर मार्गी भाई भी आया करते थे। एक समय उक्त महाशयजी प्रशान्त चित्त से महाराज श्रीसे पूछने लगे कि- " इस अनादि परम पवित्र जैन मत में अनेकानेक ग्रन्थ विद्यमान हैं तथापि हेय ज्ञेय, उपादेय स्वरूप में वस्तु का ज्ञान होवे ऐसा अलौकिक ग्रन्थ हमारी दृष्टिगोचर भूतकाल में नहीं हुआ, इस लिये आप जैसे विद्वान सन्त ऐसे अपूर्व ग्रन्थ का आदर्श करावें। हमें पूर्ण आशा है कि आप हमारी विनती पर अवश्य लक्ष देंगे और हमें कृतार्थ करेंगे" इत्यादि विनती पर महाराज श्रीने उक्त महाशयजी का तदनुकूल संतोष जनक उत्तर प्रदान किया फिर स्वयं आपने विचार किया कि हमारी जैन समाज के प्रायः कई लोग उक्त प्रकार की बातों से अनभिज्ञ हैं ऐसा कारण

समझ करके तथा जैन अजैन विद्वानों को सत्यासत्य पदार्थोंका दिग्दर्शन करानेका हेतु जानकर इस ग्रंथकी रचना प्रारम्भ की और आज दिन तक ये दश नियम लिखे हैं जिन का विस्तार पृथक वर्णन पुस्तक के पढ़ने से स्पष्टतया मालूम हो जावेगा। इत्यलम्।

प्रकाशक

॥ श्री ॥

जैन मत दिग्दर्शन त्रिंशिका

प्रथम भाग

मंगलाचरण

रागद्वेष विनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः
दृढ बोधश्च धीरश्च सगच्छेत् परम पद ॥

अर्थ-वह आत्मा परम पद (मोक्ष) में जाती है जो रागद्वेष से रहित है और सब प्राणियों के हित में रक्त (तल्लीन) है और जिसका तत्त्वों पर दृढ विश्वास है और उपसर्ग परिषह सहने में अडोल है।

जैनियों की मान्यता अर्थात् ज्ञेय जानने रूप पदार्थ के दश नियम।

* प्रथम ईश्वर विषय *

ईश्वर परमात्मा को अनादि और अनन्त मानते हैं अर्थात् सिद्ध स्वरूप, सच्चिदानंद, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, निर्विकार, अजर, अमर, अविनाशी, अन्तर्यामी, अनन्त शक्तिमान, निष्कलंक, निष्प्रयोजन, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, ज्ञान पर्याय से सर्व व्यापक इत्यादि मुक्त अवस्था में सदैव मानते हैं।

प्रश्न-ईश्वर एक है और आप अनन्त मानते हो सो किस हिसाब से?

उत्तर—जब हम आस्तिक धर्म वाले मुक्ति को अनादि और मुक्ति में आये हुए जीवों को भी अनादि मानते हैं। और यह मुक्ति में जाने का क्रम कब तक रहेगा इस का भी कोई अन्त नहीं है। तथा जो जीव मोक्ष में जाते हैं वे सब ईश्वर स्वरूप में लीन हो जाते हैं, क्योंकि उनके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अतः उन का पुनरपि जन्म लेना दग्ध बीजवत् सर्वथा असम्भव है। यथा जिस प्रकार अनाज का धूम (धाँ) हो जाता है परन्तु धूम का पुनरपि अनाज नहीं हो सकता। इसी प्रकार मुक्त सिद्धात्मा भी पुनरपि संसार में नहीं आ सकते। (मुक्तानावृत्ति) इस आवश्यक सूत्रम्, इस सूत्र से सिद्ध है कि मुक्ति में गये हुए जीव फिर संसार में नहीं आते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १५ श्लोक ६ में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा है:—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अर्थ—जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता, (वैसा) वह मेरा परम स्थान है। जहां पर न तो सूर्य न चन्द्रमा (और) न अग्नि का प्रकाश है।

बस इसी हेतु से मोक्ष में ईश्वर भी आप अनन्त हैं। "अनन्ता सिद्धा" इति सूत्रम् अर्थात् मुक्ति में सिद्ध परमात्मा अनन्त हैं।

प्रश्न—ऐसे मोक्ष में जाते २ अनन्त काल पर्यन्त सब ही संसारी जीव पहुँच जावेंगे तब तो संसार सर्वशून्य अवस्था को प्राप्त हो जायगा।

उत्तर—प्रथम तो पाठकों को यह जानना चाहिये कि इस

ससार में जीव की राशि अनन्तान त है और अनन्त की परिभाषा यह है कि-" न अन्तेति अनन्तम् " अर्थात् जिसका अन्त नहीं वह अनन्त कहलाता है और इस अनन्त शब्द के अक्षरार्थ से भी स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि यह ससार जीवों से कदापि शून्य न होगा।

देखिये गत काल में अन न्त जीव मोक्ष में गये और जा रहे हैं व जायगें परन्तु जब देखो तब ससार अन न्त जीवों से ज्यों का त्यों भरा हुआ है, अभी तक तो खाली नहीं हुआ तो फिर अब क्या होना है।

इस उपरोक्त न्याय से पाठकों को अवश्य ही सतुष्टता हुई होगी वरना दूसरा न्याय लिखते हैं-

जैसे कोई अत्यन्त शक्तिवाला देवादि पुरुष पूर्वादिक दिशा का अन्त लेना चाहे तो कभी अनन्त रूप क्षेत्र का अन्त आ सक्ता है! कदापि नहीं।

बस उपरोक्त दोनों ही न्याय से जान लेना चाहिये कि अनन्त जीव मोक्ष में गये हैं और जा रहे हैं तथापि ससारी जीवों का अन्त नहीं आ सक्ता। इति श्री ईश्वर विषय समाप्तम्।

* द्वितीय जगत् विषय *

षट् द्रव्य रूप जगत् अनादि मानते हैं अर्थात्-धर्म (Medium of motion) अधर्म (Medium of rest) आकाश, (Space) काल, (Time) जीव, (Soul, spirit) पुद्गल (Matter) इन प्रत्येक द्रव्यों में प्रत्येक २ धर्म रह हुए हैं यथा, गति, स्थिति, अवकाश, परिवर्तन चेतना, गलन, पूरण इत्यादि। गति, स्थिति, अवकाश और परिवर्तन, ये चार द्रव्य जीव व पुद्गल के प्रेरणा करने

में सहकारी है, अर्थात् धर्मास्ति चलने फिरने में अधर्मास्ति स्थिर करने में सहायता देता है। आकाश अवकाश देने में और काल जीव व पुद्गल का नया जीर्ण अवस्था करने में सहायक है, इत्यादि।

प्रश्न–अजी उक्त षट् द्रव्यों में आकाश काल जीव और पुद्गल ये चार द्रव्य तो किसी किसी तरह प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से प्रतीत में आजाते हैं किन्तु आपके माने हुए धर्मा-धर्म अप्रत्यक्ष होने से प्रतीत में नहीं आ सक्ते हैं।

उत्तर–हे मित्र! यह पदार्थ अल्पज्ञ की दृष्टि अगोचर हैं तथापि अनुमान प्रमाण से माने जाते हैं जैसे–आकाश अरूपी अमूर्त्ति और अप्रत्यक्ष है तथापि जीव प्रकृति को अवकाश देने में समर्थ है ऐसा अनुमान होता है एवं ईश्वर परमात्मा भी अप्रत्यक्ष व दृष्टि अगोचर है तथापि किसी आधार से तथा अपने अनुभव ज्ञान से हम सब प्रत्यक्ष रूप से ही मानते हैं बस दृष्टि अगोचर यह बातें मानी जाती हैं। ऐसे ही जीव पुद्गल की गति स्थिति करने में धर्मास्ति अधर्मास्ति द्रव्य मानना ही सत्य है। अतएव उक्त षट् द्रव्यों के नित्य व शाश्वत् होने से यह सिद्ध हो चुका कि इस जगत का कोई भी कर्त्ता नहीं है क्योंकि इसका कारण और कार्य अभिन्न हैं जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश"। और कर्त्ता उन पदार्थों का है जिनका कारण से कार्य भिन्न हो जैसे-रोगी की दवा रूप कारण से आरोग्य रूप कार्य भिन्न हुआ एवं ही घट पट घृतादि पदार्थ निमित्त और कर्त्ता के आधीन हैं अर्थात् इनका कर्त्ता अवश्य है बस सदाविम पूर्वापेक्ष समस्त पदार्थ द्रव्य रूप जगत के अन्तर्गत ही हैं और इसी हेतु से यह जगत् अनादि व अनाशवान स्वयं सिद्ध है। पुरोहितजी

सासए " इति सूत्रम् भगवत्याम् यह जगत ध्रुव नित्य व शाश्वत् है इस लिये कोई कर्त्ता नहीं है और यही श्रीमद्भगवद्गीताजी के अध्याय ५ के श्लोक १४ वें में कहा है —

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु: ।
न कर्म फल संयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थ–प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगों के कर्तृत्व को उनके कर्मको, कर्मफल के संयोग को भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ किया करती है।

यद्यपि जगत् चौदह राजात्मक ऊचाई में है तथापि ऊर्ध्व, अध, मध्य ये तीन भाग हैं जिन में नीचे के भाग में सात नरक और मध्य के भाग में असख्य द्वीप समुद्र और ऊर्ध्व-लोक में बारह स्वर्ग, नव नवग्रैवेक पांच अनुत्तर विमान और मुक्ति शिला इत्यादि भेदसे मानते हैं।

इस का विशेष वर्णन पाठकों को जानना हो तो जैनियों के " जीवाभिगम् सूत्र व त्रिलोकसार " ग्रन्थ में देखें। इति दूसरा जगत् विषय समाप्तम्।

" * तीसरा पदार्थ विषय *

हेय ज्ञेय उपादेय तथा कारण कार्य स्वरूप से नव पदार्थ मानते हैं- यथा नाम-जीव, अजीव पुण्य पाप आश्रव, सवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष परन्तु घट पटादि पदार्थ इस जगत में अनेक विद्यमान हैं तथापि इन नवही में समावेश हो जाते हैं, यथा गाथा- ' जीवा जीवा य बन्धोय पुण्ण पावा सवो तहा, सवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव " । सू० उत्तराध्ययन अ० २८ । जीव और अजीव य

लिये अजीव पदार्थ रूपा रूपी हैं। फिर पाठकों का विशेष विचारणीय है कि जीव के साथ पुण्य, पाप (शुभाशुभ) के कारण से आश्रव रूप द्वार में आकर बंधरूप कार्यपने प्रणमता है और संवर, निर्ज्जरा के कारण से मोक्ष रूप कार्य होता है इस में शास्त्रकारों ने यथा न्याय दिया है, सू० उत्तराध्यन अ० ३० गा० ५ वीं " जहा महा तलागस्स सन्निरुद्धे जलागमे उस्सिंचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे "

अर्थ:-जीवात्मा रूपी तालाब जिस में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन या परिग्रह ये कर्म रूपी पानी आनके आश्रव (मार्ग) हैं, परन्तु किसी महानुभाव को उक्त तालाब में रत्न त्रय रूप गड़ी हुई निधिका निश्चयात्मक ज्ञान हुआ और विचारा कि इस मे मेरी मुख्य निधि गड़ी हुई है पर किस प्रकार निकालना चाहिये इस के लिये उसने प्रथम तो जलागम को निरूधन किया अर्थात् जल आने के रास्ते को रोका पश्चात् जो उस में जलका संचय था उसको उलीच कर निकाल दिया और फिर शीघ्र ही कर्म जलका शोषण होने से अपनी उक्त निधि को बाहर निकाल लिया इत्यादि।

अब पदार्थों का लक्षण लिखते हैं, यथा-जीवका चैतन लक्षण अजीव का जड़ लक्षण, पुण्य का शुभ लक्षण, पाप का अशुभ लक्षण, आश्रव का आगमन लक्षण अर्थात् कर्म आन का रास्ता, संवर, का निरूधन लक्षण अर्थात् आते हुए कर्मों को रोकना निर्जरा का निर्झर लक्षण जैसे पानीसे भीगा हुआ वस्त्र किसी दीवाल आदिके ऊपर लटकाने से क्रमशः पानी बूंद २ निर्झरता है और फिर कालान्तरमें वो वस्त्र जल से निराश हो जाता है अर्थात् सूख जाता है इत्यादि बन्ध का बन्धन लक्षण अर्थात जीव के प्रदेशों को कर्म बंध रूप हो

कर बाध लेता है, मोक्षका साधन लक्षण अर्थात् सर्व कर्म रहित हो जाना (शुष्क वस्त्र वत्) इत्यादि स्वरूप से नव पदार्थ मानते हैं। अस्तु। इति श्री तीसरा पदार्थ विषय समाप्तम्।

* चौथा तीर्थंकरादि धर्मावतार विषय *

तीर्थंकरादि महा पुरुषों का धर्मावतार मानते हैं अर्थात् ऐसे २ धर्मावतारियों से ही जगत में अहिंसा आदि धर्मकी प्रवृत्ति होती है। अतएव तीर्थंकरों का जन्म युगादि क्षेत्र समय के अन्तर में उत्तमोत्तम राजादि उत्तमोत्तम वंश में होता है और इन महानुभावों का जन्म महिमा करने के लिये चौसठ इन्द्र और छप्पन कोड़ि-चरी आदि देवी देवता गण आते हैं तदनन्तर जन्म से लेकर यावत् तरुण वय पर्यन्त भोगोदय कर्म के वश अनासक्त भाव से भोगोपभोग भी भोगते हैं पश्चात् भोग कर्म के अन्त में वह अपनी संयम लेने की इच्छा प्रगट करते हैं। फिर वे अपनी उदारता दिखाने के लिये एक करोड़ और आठ लाख सोनैया प्रति दिन दान देते हैं और इसी प्रकार बारह महीने तक देते हैं। इस के पश्चात् वैराग्यभाव से संसारको अनित्य जानकर संयम धारण करते हैं और उत्कृष्ट तपश्चर्या के बल से, केवल ज्ञान, केवल दर्शन की प्राप्ति करके सर्वोच्च पद पाते हैं-अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व दर्शी हो जाते हैं। इस के पश्चात् अमर (देवता) नर (मनुष्य) तिर्यंच (पशुपक्षी) इत्यादि गणकोटि में घिरा जके अपने पवित्र मुख से पक्षपात रहित धर्मोपदेश देते हैं जिस से प्राणीमात्र का उद्धार होता है, इस लिये आप महानुभावों का जन्म धर्म मयी और धर्मावतार कहलाता है। ऐसे धर्मावतार पंचभरत पंच ऐरावत इन दश क्षेत्रों में चौबीस २ संख्या रूप से होते हैं और पंच महा विदेह क्षेत्र में जघन्य पद उत्कृष्ट एक सौ साठ की संख्या में सदैव विचरते हैं।

ऐसे धर्मावतारों को हम तीर्थंकर भी कहते हैं क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप गुण और साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप गुणी ये गुण गुणी के अभेद रूप से आप चार तीर्थ स्थापन करते हैं इस से तीर्थंकर कहलाते हैं।

ऐसे तीर्थंकरों की उपासना हम मोक्ष पाने के अर्थ करते हैं क्योंकि इनका हमारे ऊपर निमित्त भत परमोपकार है।

इन के साथ में जगत प्रसिद्ध जगतवल्लभ भरतादि द्वादश चक्रवर्ती, श्रीरामचन्द्रादि नव बलदेव, श्रीकृष्णादि नव वासुदेव, ये भी एक अवतार रूप ही होते हैं, इत्यादि। इति श्रीतीर्थंकरादि धर्मावतार का चतुर्थ विषय समाप्तम्।

* पाँचवाँ जीव और कर्म का विषय *

जीव के साथ कर्म अनादि मानते हैं, किन्तु जीव चैतन्य (ज्ञान) रूप है और कर्म पुद्गल [जड़] रूप है। दोनों के एकत्रित होने से जीव का अनेक रूप रूपान्तर होता है तथा इन कर्मों के पृथक् [अलग] होने से जीव मोक्ष में भी पहुँच जाता है किन्तु स्वतंत्र हो के कर्त्ता, भोक्ता तथा कर्मों का फल भोगनेवाला स्वयं जीव ही है न कि ईश्वरादि भुगताने वाले हैं।

प्रश्न—अर्जी यदि कर्म तो जड़ हैं और जड़ में इतनी शक्ति नहीं है जो कि जीव को उठाकर नरकादि गति में ले जा कर डाल दे और जीव भी ऐसा नहीं है जो स्वयं ही दुःख भोग ले, क्योंकि दुःख परतन्त्र हो कर भोगे जाते हैं। इस लिये कर्म फल भुगताने वाला कोई दूसरा है अर्थात् सुख दुःख रूपी कर्म का कर्त्ता तो जीव है परन्तु फल भुगताने वाला ईश्वर है।

उत्तर—हे मित्र ! जड़ पदार्थ में तो अनन्त शक्तियां विद्यमान हैं देखिये, दृष्टान्त-मदिरा एक जड़ पदार्थ है परन्तु इसको कोई

पुरुष पिये, तो पीने ही उस की कैसी हालत होती है। पीने वाला थोड़ा २ देर में अनेक कुचेष्टाएं करने लगता है और नशे में अचेत हो किसी नाली आदि दुर्गन्धित स्थान में जा गिरता है ! क्या ये जड़ की शक्ति नहीं है ? नहीं २ ये सब जड़ की ही शक्ति है। ऐसे ही यह जीव इस स्थूल शरीर को मृत्युलोक में छोड़ कर कर्म रूपी जड़ की शक्ति से जिस गति में जाना होता है उसी गति में समयान्तर से चला जाता है।

पुनः जीव के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखते हैं।

यद्यपि जीव ज्ञान मयी है और कर्म जड़मयी है। जाव अरूपी और कर्म रूपी हैं तथापि कनक मैलवत् वस्तु स्वभाव करके जीव कर्म के संजोग सम्बन्ध प्रवाह से अनादि है। जैसे आकाश और घटके रूपी अरूपी का परस्पर सम्बन्ध है। जब घटाकाश पट पटाकाश मटाकाश कहलाता है इत्यादि और इसी तरह जीव कर्म के रूपी अरूपी का परस्पर अनादि सम्बन्ध है और जीवके साथ कर्म अनादि होने से ये भी घटना करना पाठकों को सघटित है यदि जिस का कारण नष्ट नहीं है उसका कार्य नष्ट कदापि नहीं हो सकता है। जैसे घट का उपादान कारण मृत्तिका एवं कर्मों का उपादान तैजस कारमाण शरीर है। इस में कारमाण शरीर कर्मों का खजाना रूप है इस लिये जीव के साथ में सदैव रहता है और य भी विचारणीय है कि, जीव नवीन कर्म प्रति समय पंच बंध हेतु द्वारा बांधता है यथा, मिथ्यात्, अव्रत प्रमाद कषाय, योग इत्यादि।

जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहे को कशिश (आकर्षण शक्ति) से अपनी तरफ खींच लेता है उसी तरह स यह जीव शुभाशुभ परिणामों के कशिश (शक्ति) स कर्म वर्गणा व पुद्गल को खींच लेता है फिर उदय काल में यथा शुभाशुभ फल भोगता

है और कथंचित् समय पाकर पूर्व कर्म क्षय भी हो जाते हैं क्योंकि जीव कर्म का संयोग सम्बन्ध है न कि तादात्म्य सम्बन्ध है और जहां संयोग है वहां वियोग अवश्य मानना सत्य है, जैसे-जल और पवन का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। पवन के प्रसंग से जल की तरंगें रूप विचित्र अवस्था हो जाती है, किन्तु जल, पवन की पृथकता भी किसी कारण वश हो जाती है। यथा, दृष्टान्त-कोई पुरुष जल का घट भर के मुंह बांध कर किसी एकान्त निर्वात् स्थान पर रख दे तो पुनरपि तरंगता का बिलकुल ही अभाव हो जाता है। इस बहुदेसी दृष्टान्त को हम दृष्टांतिक कर दिखाते हैं। ऐसे ही जीव रूप जल के और कर्म रूपी पवन के संयोग सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है, किन्तु प्रबल तपश्चर्या के निमित्त से क्षीर नीर के न्याय जीव और कर्मों की पृथकता हो जाती है। इस का विशेष विवरण देखना हो तो कर्म ग्रन्थ और कर्म मीमांसा आदि ग्रन्थ देखिये। इति श्री पांचवां जीव कर्म का विषय समाप्तम् ॥

* छट्ठा वस्तु में अनेक धर्म विषय *

प्रत्येक वस्तु को अनेक धर्म स्वभाव वाली मानते हैं, जैसे रामचन्द्रजी महाराज में पिता, पुत्र, भाई, जमाई, पति, वैरी, मित्रादि अनेक सम्बंध वाला धर्म विद्यमान है अर्थात् लवकुश के पिता, दशरथजी के पुत्र, लक्ष्मणजी के भाई, जनकजी के जमाई, सीताजी के पति, रावण के वैरी सुग्रीवादि राजा के मित्र इत्यादि एक दूसरे की अपेक्षा से श्री रामचन्द्रजी महाराज में अनेक धर्म माने गये हैं।

बस इस उपरोक्त विधि से घट पटादि समस्त वस्तु में अनेक

धम मानना मनथा स य है य था- अस्तित्व नास्तित्व, सत्यत्व, असत्यत्व नित्यत्व, अनित्यत्व एकत्व, अनेकत्व, सामान्यत्व विशेषत्व इत्यादि।

पाठकों! यह विषय बहुत ही विचारणीय है क्योंकि उपरोक्त विषय स्याद्वाद शैली और अनेकान्त पक्षका न्याय लिया हुआ है।

इसलिये जिस समय स्ववस्तु का जो धर्म है उसी समय पर वस्तु का विपरीत धम भी विद्यमान है अर्थात् एक वस्तु में एक ही समय में युग्म धम रहता है जैसे-घट में मृत्तिका का अस्तित्व धम है उसी समय में घट में पट का नास्ति व धर्म समझना चाहिये एवं सत्यत्व असत्यत्व अर्थात् घट में मृत्ति का का भाव और पटका अभाव एक ही समय में विद्यमान हैं तथा घट के परमाणु आदि द्रव्य नित्य हैं परन्तु घटका रूप से रूपान्तर होना यह पर्याय अनित्य है। ऐसे घड़ा की पर्याय मृत्तिका एक ही रूप है और घट घड़ा, जलपात्र, कुम्भ इत्यादि पर्याय वाचक नाम अनेक हैं। इस लिये घट में एकानेक धम भी सिद्ध है अथवा सामान्य रूप में घट मृत्तिका का है पर विशेष रूपमें घट अमुक नगरी की मृत्तिका का है और बसन्तादिक षट् ऋतु में अमुक ऋतुका है इत्यादि सामान्य विशेष धम घट में प्रत्यक्ष हैं।

फिर स्याद्वाद अनेकान्त पक्षका न्याय विशेष नय निक्षेप प्रमाण सप्तभंगी, चौभंगी, त्रिभंगी आदि अनेक हैं परन्तु पुस्तक के बढ़ जाने के भय से यहां नहीं लिखा है।

यदि पाठकों को उपरोक्त न्याय देखना हो तो स्याद्वाद मंजरी स्याद्वाद रत्नाकर, स्याद्वाद न्यायावतारिका, तथा न्याय दीपिका आदि कई ग्रंथ अवलोकन करें जिस से आपको

स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा। इति श्रीअड्डा वस्तु में अनेक धर्म विषय समाप्तम्।

* सातवां आत्म स्वरूप विषय *

एगे आया-इति स्थानांगम्-अर्थात् एक आत्मा एक शब्द सर्वथा वाचक है और आत्मा शब्दकी व्युत्पत्ति यथा अतति सातत्येन गच्छति स्वस्थान भावानित्य आत्मा अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव [गुण] में प्रवर्तती है न कि अन्य में, किन्तु त्रिकाल में इनका विनाश नहीं होता।

आत्माको सत्य, नित्य शाश्वत्, अखण्ड अमूर्त्ति, अरूपी, अजरामर, तथा सिद्धस्वरूप मानते हैं, क्योंकि आत्मासे ही महात्मा होता है और महात्मा से परमात्मा भी हो सक्ता है इस लिये ये आत्मा परमात्मा तुल्य है और किसी कविने भी कहाहै –

" सिद्धा जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैलका आंतरा, बूझे विरला कोय ॥ "

अतएव आत्मा दो प्रकार की है (१) सामान्य और (२) विशेष एकेन्द्री से यावत् पचेन्द्री पर्यन्त समारी जीवों के सामान्य आत्मा है और मोक्ष निवासी सिद्ध जीवों के विशेष आत्मा है परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उभय आत्मा का स्वरूप और लक्षण एक ही है पर व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से आत्मा दो हैं [सिद्ध और समारी जीवों की] अस्तु।

प्रश्न–आप ऊपर लिखते हो कि आत्मा एक है और फिर नीचे लिखते हो कि आत्मा दो हैं सो किस प्रकार से और कैसे हैं ?।

उत्तर–यद्यपि आत्मा सिद्ध ससारी के भेद से दो तथा अनन्त हैं तथापि आत्मा २ का गुण [लक्षण] एक ज्ञान स

जातिवाचक आत्मा एक ही कहना सत्य है। जैसे मनुष्य अनेक हैं परन्तु मनुष्य जातिका नाम एक है ऐसे ही आत्मा दो तथा अनन्त है परन्तु जातिवाचक नाम एक है।

प्रश्न-जब सब आत्मा का गुण [लक्षण] एक है तो फिर दो तथा अनन्त क्यों कहा ?

उत्तर-तुम्हारा यह कहना ठीक है; किन्तु सउपाधि और निरउपाधि आत्माए दो प्रकार की हैं तथापि प्रत्येक २ द्रव्य आत्मा मोक्ष तथा संसार में अनन्त है यथा शास्त्रकारोंने कहा है। पाठ- सव्व जाणा अनन्तसो " इति वचनात्

प्रश्न-आत्मा २ की वास्तविक विलक्षणता एक है तो फिर कर्म मिश्रित और कर्म अमिश्रित ये द्विधा भेद क्यों हैं ?

उत्तर-यह कथन तुम्हारा अति सत्य है परन्तु क्षीर नीर का अनादि सम्बन्ध है। यद्यपि क्षीर नीर एक पात्र में तद्रूप होकर रहते हैं तथापि क्षीर में स्निग्धता और नीर में शीतता ये दोनों गुण भिन्न २ हैं और अपने २ स्वभाव गुण में रहते हैं। ऐसे ही जीवात्मा और शरीरादिक कर्म रूप पुद्गल तद्वत होकर एक शरीर में रहते हैं लेकिन आत्मा चैतन्य को और कर्म जड़ता को नहीं छोड़ता है पुन किसी शुद्ध कारण से काला तर में इन दोनों की पृथकता हो जाती है। पृथकता होने के पश्चात् केवल आत्मा स्वभाव गुण में प्रवर्तती है परन्तु यह गुण पृथक नहीं होता जैसे हीरा और हीरे की प्रभा सूर्य और सूर्य की किरण इत्यादि पृथक नहीं है यथा-" जे आया से विनाया, जे विनाया से आय, इति आचारांग सूत्रे ज्ञेयम् "। अर्थात् जो आत्मा है सो विज्ञान है और जो विज्ञान है सो आत्मा है इस लिये आत्मा २ का गुण एक ही है पुन आत्मा का

स्वरूप विशेष उल्लखनीय यह है कि इस में विकार और विकाश इन दोनों का स्थान है।

प्रश्न—अजी, एक वस्तु में गुण और विगुण ये दोनों कैसे हो सके है?

उत्तर—हम देखते हैं कि संखिया आदि शुद्ध मात्रा के खाने से शरीर आरोग्य हो जाता है और अशुद्ध के खाने से विपरीत होता है तथा दीपक से प्रकाश व कज्जल होता है बस इस से सिद्ध हुआ कि एक वस्तु में गुण और अवगुण दोनों ही रहते हैं।

उपरोक्त न्याय के अनुसार आत्मा में भी विकार और विकाश ये दोनों ही गुण समझने चाहिये। श्रीउत्तराध्ययनजी सूत्र० अ० १४ का काव्य १६ वा में भी ऐसा कहा है—" नोइन्दिय गिज्झ अमुत्त भावा, अमुत्त भावा विय होई निच्चो अज्झत्थहेउं। नियस्स बंधो संसार हेउं च वयति बंध॥"

अर्थः—यह आत्मा अरूपी और अमूर्त्ति होने से इन्द्रियों के अग्राही है। जो अरूपी और अमूर्त्ति होता है वह नित्य और शाश्वत् होता है। आत्मा विकाश वाली है पर मिथ्यात्वादि अध्यात्म दोषों के कारण से कर्मबंध होता है फिर कर्म बंध के कारण से अनेक विकार पैदा होते हैं।

विकार परगुण है और विकाश स्वगुण है जब आत्मा में होता है तब अनन्तगुण प्रगट होजाता है क्योंकि आत्मा में अनन्त गुण सत्ता सरूपमात्र रही हुई है।

दोहा—

ज्यों अंकुरे महीभरी, जल विन ना प्रगटाय।

त्यों आतमगुण सों भरी, ज्ञान विना न दिखाय॥

उपरोक्त प्रमाणों से आत्म विषय कहा सोही शास्त्र प्रमाणित है इति श्री. सातवा आत्म स्वरूप विषय समाप्तम्।

॥ आठों शुभाशुभ कर्म की प्रकृति विषय ॥

(१) नाम द्वार-अर्थात् आठ कर्म के नाम ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी वेदनी मोहनी, आयुष्य नाम गोत्र व अन्तराय इत्यादि ८ मूल प्रकृति हैं।

(२) प्रकृति द्वार-उत्तर प्रकृति १४८ यथा ज्ञानावर्णी की ५, दर्शनावर्णी की ९ वेदनी की २, मोहनी की २८ आयुष्यकी ४ नाम की ९३, गोत्रकी २, अन्तरायकी ५ इत्यादि कुल १४८ हैं।

(३) अर्थ द्वार-ज्ञानावर्णी ज्ञान के आवरण का, दर्शनावर्णी दर्शन के आवरण रूप वेदनी-साता असाता का भोगना मोहनी मिथ्यादिक में मुरझाना आयुष्य कर्म की प्रकृति चार गति में रहना नाम कर्म यश अपयश आदि शुभाशुभ पाना गोत्र ऊंच नीच कुल में उत्पन्न होना, अन्तराय शुभ काम में बाधा होना इत्यादि।

(४) दृष्टान्तद्वार-ज्ञानावर्णी सूर्य के बादलवत् आवरण दर्शनावर्णी दर्शन नयपटावत् आवरण वेदनी मिष्टान्न् खाना और विषवत् असाता मोहनी मद्यवत् मूर्छित होना, आयुष्य बेड़ावत् चतुर्गति रूप संसार के बन्धन में रहना, नाम चित्र विचित्रवत् नाम गोत्र छोटे मोटे कुम्भवत् ऊंच नीच कुल में उत्पन्न होना, अन्तराय भण्डारीवत् बाधा डालना।

(५) घातिकद्वार ज्ञानावर्णी कर्म देशज्ञान व सर्व ज्ञान का घातिक अर्थात् मति श्रुत, अवधि मन पर्यव ज्ञान के देश आवरण रूप हैं केवलज्ञान के सर्वघात सर्व आवरण रूप है दर्शनावर्णी कर्म देश व सर्व आवरण अर्थात् चक्षु अचक्षु अवधि दर्शन के देश आवरण हैं और केवल दर्शन के

मरे आवरण है इस लिये इन दोनों कर्मों को शास्त्रकारों ने आवरण रूप माना है, वेदनी कर्म एकान्त सुख का घातिक है, मोहनी कर्म क्षायक गुण अर्थात् यथाख्यात चारित्रका घातिक है, आयुष्य कर्म अन्तर गति यानी मोक्षका घातिक है नाम कर्म नाम से नामांतर नहीं होना अर्थात् निश्चल नाम का घातिक है, गौत्र कर्म सर्वोच्च पदका घातिक है, अंतराय कर्म दान लाभ, भोगोपभोग और शक्ति गुणका घातक है; इन ८ कर्मों के नष्ट होने से सिद्ध परमात्मा में आत्मिक आठ गुण प्रगट होते हैं

(६) शुभाशुभ द्वार-ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी मोहनी अंतराय ये चार कर्म घन घातिया व एकांत अशुभ है और वेदनी आयुष्य नाम और गौत्र ये चार कर्म अघातिक है और इन में शुभाशुभ दोनों है।

(७) कारण द्वार-शुभ कर्म पुण्य रूप है और अशुभ कर्म पाप रूप है यथा, पुण्य नव प्रकार से होता है (१) अन्न पुण्ये अर्थात् अन्न देने से पुण्य, (२) पाण पुण्ये अर्थात् पानी पिलाने में पुण्य, (३) लयण पुण्ये अर्थात् मकान धर्मशाला, सराय आदि ठहरने को देने में पुण्य, (४) सयण पुण्ये अर्थात् माचा पलंग, खाट पाट पाटादि शैया देने में पुण्य (५) वत्थ पुण्ये अर्थात् वस्त्र कम्मल आदि देने में पुण्य (६) मन पुण्ये अर्थात् मन से शुभ चिन्तवना करने में पुण्य (७) वचन पुण्ये अर्थात् शुभ वचन बोलने में पुण्य, (८) काय पुण्ये अर्थात् काया से शुभ कार्य करने में पुण्य, (९) नमस्कार पुण्ये अर्थात् नमस्कार नमन करने में पुण्य इत्यादि नव कारणों में शुभ योग की प्रवृत्ति

बहुत है इस से पुण्य बंध होता है। यद्यपि पुण्य बंध कारण नहीं है तथापि यथोचित पात्र अपात्र का भेद समझ के देय धर्म का पक्ष ग्रहण करना है।

(८) अशुभ कर्म पाप रूप है और अठारह कारणों करके बंधता है यथा (१) प्राणातिपात (हिंसा करना) (२) मृषावाद (झूठ बोलना) (३) अदत्तादान (चोरी करना बिना दिए लेना), (४) मैथुन (स्त्री पुरुष का संयोग होना) (५) परिग्रह हर एक (वस्तु पर ममत्व करना) (६) क्रोध (क्रोध का करना) (७) मान (तन धन यौवन आदि में उन्मत्त मानना) (८) माया (कपट जाल करना) (९) लोभ (अति इच्छा करना) (१०) राग (अपनी वस्तु पर प्रेम करना) (११) द्वेष (दूसरे की वस्तु पर द्वेष करना) (१२) कलह (झगड़ा मचाना) (१३) अभ्याख्यान (किसी के कलंक लगाना) (१४) पैशुन्य (चुगली खाना) (१५) परपरिवाद (निन्दा करना) (१६) रति अरति (संसार के पदार्थों पर आसक्ति से प्रीति और इसी समय में दूसरी प्रतिपक्षी वस्तु पर अप्रीति करना) (१७ माया मृषा (कपट सहित झूठ बोलना) (१८ मिथ्या दर्शन शल्य (सत्य पदार्थों पर अप्रतीति व असत्य पदार्थों पर प्रतीति करना) इत्यादि १८ पाप रूप कर्म बंध का कारण है। इन पापों के प्रभाव से जीव नरकादि गति में जाता है और पुण्य के प्रभाव से स्वर्गादि गति में जाता है, अस्तु। इति श्री अष्टम प्रकृति द्वार विषय समाप्तम्॥

❋ नवमा षट् जीवनी काय विषय ❋

संसार में समस्त जीवों को षट्काय मानते हैं यथा पृथ्वी काय (Earth beings) अपकाय, (Water beings)

तेउकाय, (Fire beings) वायुकाय (Air beings) वनस्पतिकाय, (Vegetable, tree, or plant beings) These five kinds of beings are Stationary living beings while the Sixth is moving living beings त्रसकाय, ये छ काय है इनकी परीक्षा; पृथ्वीकाय [illegible] मिट्टी आदि अपकाय तालाब आदि का पानी, [illegible] सर्व प्रकार की अग्नि, वायुकाय हवा, वनस्पति [illegible] आदि, त्रसकाय दो इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जीव।

उक्त शब्दों में प्रत्येक जगह काय शब्द आया है [illegible] असंख्य अनन्त जीवों के समुदाय को काय कहते हैं अर्थात् काय शब्द समूह वाचक है किन्तु पृथ्वी, अप, तेउ [illegible] के प्रत्येक २ अणु व बहु में असंख्य जीव हैं और [illegible] (Living beings having two senses As [illegible] (Living beings having three senses As [illegible], ants) चौइन्द्री, (Living beings having [illegible] senses As wasps, bees, scorpions,) पञ्चे[illegible] (Living beings having all the five senses, As [illegible], fish birds animals) इन प्रत्यक प्रत्येक इन्द्रिय [illegible] जीव है, यथा

" पुढवी चित्त मत मक्खाया अणेग जीवा पुढो सत्ता "

इति वचनात्। अर्थ -पृथ्वी [illegible] है किन्तु [illegible] अनेक जीव पृथक २ शरीर में हैं [illegible], तेउकाय, वाय, वनस्पतिकाय में, भी ऐसा ही जानना। [illegible] परमात्मा का फरमान है।

प्रश्न-अजी पृथ्व्यादिक [illegible] में जीव

इसके Doctor Bose जो एक बड़े वैज्ञानिक हैं उन्होंने ऐसे आविष्कार किये हैं जिन के द्वारा प्रत्यक्ष इन स्थावरों में ज्ञान साबित करते हैं। पाठक गण इन का ज्यादा हाल देखना चाहें तो Doctor Bose के लेख व Jainism by Herbert Warren पढ़ें और प्रसकाय में जीवों का प्रत्यक्ष ही प्रमाण है इसमें कोई युक्ति दिखाने की आवश्यकता नहीं है। अस्तु।

इति श्री नवमा पद जीवनीकाय विषय समाप्तम्।

※ दसवाँ तत्व परीक्षा विषय ※

तत्व तीन माने गये हैं अर्थात् सुदेव सुगुरु सुधर्म।

देवपरीक्षा—यथा दिव्यतीतिदेवः दिव्यते प्रकाशयते स देव अर्थात् दिव धातु प्रकाश करने के अर्थ में है जिनका सर्व जगत में सूर्यवत् दिव्य प्रकाश पड़ता है वही देव हो सक्ते हैं किन्तु ऐसे परम पुरुष देव अठारह दोष रहित और बारह गुण करके सहित होते हैं।

❀ दोषों के नाम ❀

श्लोक—

"अन्तरायदान लाभ वीर्य भोगोपभोगगाः।
हास्यो रत्यरतिर्भीतिर्जुगुप्साशोक एवच ॥१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञान, निद्राचाऽविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्चनो दोषा, स्तेषामष्टादशाप्यमी ॥२॥"

इति हेम कोष।

दानादिक ५ हास्यादिक ६ बारहवां काम, तरहवां मिथ्यात्व चौदहवां अज्ञान पन्द्रहवीं निंदा, सोलहवां अव्रत, सत्रहवां राग अठारवां दोष इत्यादि।

फिर शास्त्रकारोंने उन अर्हन् देवों की सम्पूर्ण निर्दोषता दिखाई है यथा -

" कोहच माणच वहेर माय लोभ । चउत्थ अज्झत्थ दोषा, ए आणिवता अरहा महेशी न कुव्वेई पाव णकारवेई " इति श्रीसूयगडांग सूत्र अ० ६ का०य २६ वा

एम परम पूज्य अर्हन् भगवान कैसे हैं अथ महर्षि हैं, किस कारण से? इस लिये कि आप स्वयं पाप नहीं करते हैं और न अन्य से कराते हैं और न करते हुये का अनुमोदन यानी भला समझते हैं और क्रोध मान माया लोभ इन अध्यात्म दोषों का सर्वथा नष्ट कर देते हैं इस लिये कारण नष्ट होने से कार्य का भी नाश हो जाता है। इन के चार घातिक कर्मों के नाश होने से इन की प्रकृति रूप अष्टादश दोषों का भी नाश हो जाता है फिर बाह्य आभ्यंतर रूप द्वादश गुण प्रगट होते हैं, यथा-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तचारित्र अनन्त क्षायिक, सम्यक्त्व, अनन्तदान, अनन्तलाभ अनन्तभोग, अनन्त उपभोग, अनन्तशक्ति पूजा गुण अर्थात् ३४ अतिशय और वाक्यगुण अर्थात् पैंतीस वचनातिशय इत्यादि।

यद्यपि उपरोक्त गुणालंकृत सुदेव विराजते हैं तथापि नामों की महिमा अनेक होने से श्लोक मय दिखाते हैं।

श्लोक–

" अर्हन् जिनः पारगत स्त्रिकालवित्, क्षीणाष्टकर्मापरमेष्टि धीश्वर' शंभु स्वयम्भुर्भगवान जगत्प्रभु, स्तीर्थंकरस्तीर्थंकरोजिनेश्वर' स्याद्वादभयदसर्वा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवलिनो देवाधिदेव बोधि पुरुषोत्तम वीतरागाप्ता. " ॥२॥

यद्यपि प्रत्येक नामों से असंख्य अपार महिमा है तथा वीतराग व जिन शब्द का विशेष अनुकरण करते हैं। विगत रागो यस्मात् स वीतराग इति बहुव्रीही, वि विशेषण इतो गता राग यस्मात् स इति बहुव्रीही तथा वीतराग भय क्रोध इति गीता वचनात् रागद्वेष विनिर्मुक्त इति भगवत् गीता, वीतरागजन्मा अदर्शनात् इति न्यायशास्त्रे, जयतीति जिन इति कालन्त्ररूपमाला तथा जि धातु जय प्रयोग में है यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र ४२ में कहा है जयतिलोकमिति जिन इति विग्रह कोषे इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि जिन व वीतरागता और ऐसे ही परमात्मा को सर्वोपरि सुदेव मानते हैं इति सुदेव प्रकरणम्।

(२) गुरु परीक्षा–गुरु शब्द भारका सूचक है पर वजन में भारी नहीं ज्ञानादिक गुणों की गौरवता के कारण से भारी हो सक्ता है तथा गु=अंधेरा रु=प्रकाश अर्थात् अज्ञान रूप अंधकार को मिटाकर आसनसिद्धि जीवों के हृदय में ज्ञान रूप प्रकाश की प्रभा पटक देते हैं वो ही सद्गुरु हो सक्ते हैं, किन्तु इतना ही नहीं, दुष्ट पापियों का सुधार कर मोक्षकी सीमा तक पहुँचा देते हैं। इन में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं ऐसे गुरुका गुण महिमा शास्त्रकारों ने कुल दश अक्षरों

में अगणित दिखाई है यथा—समिए सहिये सन्नाणए इति आचा राग पाठ। अथ ५ समिति सहित समिए ज्ञानवन्त और सदा जए अर्थात् प्राप्त गुणों का सदा यत्न करते हैं भावार्थ प्रथम उक्त गुरु पांच समिति और तीन गुप्ति सहित होते हैं यथा ईर्या समिति देख कर चलना भाषा समिति विचार के बोलना एषणा समिति ४२ दोष टाल के भिक्षा ग्रहण करना भंड उपगरण लेना व रखना जिस में यत्न करना लघुनीत बड़ीनीत आदि धरतीको देखके डालना ये पांच समिति प्रवृत्ति मार्ग हैं और अशुभ मनको शुभ करना एवं वचन काया भी जानना ये ३ गुप्ति निवृत्ति मार्ग हैं तथा अहिंसा, सत्य, दत्त ब्रह्मचर्य और अकिंचनता यम शौच सन्तोष ईश्वरप्रणिधान स्वाध्याय, तप नियम इत्यादि यम नियमों का सदैव जतन करते हैं अर्थात पालते हैं पुन (सहिये) यद्यपि उपरोक्त गुण सर्व हैं तथापि इन में ज्ञानका होना अवश्य है कारण कि ज्ञान पूर्वक क्रिया शुद्ध होती है यथा पाठ '' पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सव्व संजए '' इति वचनात्, प्रथम ज्ञान ततो दया संयम एतमनन प्रकारेण ज्ञान पूर्वक क्रिया प्रभेयत्ति रूपेण तिष्ठ त्यास्ने सर्व संयत इति दश वैकालिक चूर्णिवचनम्। फिर कहा है यथा नाणेणय मुनि होइ इति वाक्यम्, अर्थात ज्ञानवान ही मुनि हो सकता है इस लिये ज्ञान सहित क्रिया का होना ठीक है और ऐसे ही ज्ञान क्रिया सहित गुरु मोक्षका साधन करते हैं इति गुरु गुण समाप्तम्।

(३) धर्मपरीक्षा—धर्मशब्दकी व्युत्पत्ति यथा धृ धातु धारण करने के लिये है जैसे-दुर्गति पतित प्राणिना धारणा धर्म उच्यते अर्थात् जो जीव नीची श्रेणी में गिरताहो उनका धर्म

उच्च श्रेणी में पहुँचा देता है । धर्म धर्म शब्दका यही अर्थ है और भी न्याय देखिये—जैसे दीपक की शिखाका स्वभाव (धर्म) ऊर्ध्व गमन का है तथा अरा तुम्बे का न्याय, जैसे तुम्बा पानी में तिरकर ऊपर ही आता है वैसे ही धर्म आत्मा का तार कर ऊर्ध्व गति में ले जाता है। यह धर्म (स्वभाव) आत्मा का है न कि पुद्गलका, क्यों कि जगत के समस्त पदार्थ में प्रत्येक धर्म रहा हुआ है (वत्थुसहावो धम्मो) वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहना चाहिये, जैसे अग्नि उष्णम्, जल से तम् पुष्प सुगंधम् इत्यादि सर्वधर्म छोड़कर एक आत्म धर्म का यहां प्रसंग लिया है इस लिये उक्तधर्म इस जीवको सर्वोत्कृष्ट मंगल प्रदाता है अस्तु। यदि कोई कहे कि उपरोक्त तत्वों की परीक्षा तो ठीक है पर किस आधार से जाने जांते है क्योंकि इस कलियुग में प्रत्यक्ष रही हुई कई बातें प्रत्यक्ष दिखा दे ऐसे कोई अतिशय ज्ञानी जैन, वैष्णव, मुसलमान और ईसाइयों में इस समय नहीं है । इस लिये कौन सी कसौटी लगाकर उक्त तत्वों की हम परीक्षा करें ऐसी युक्ति बतलावें जिस से हमें तत्वों पर विश्वास और पूर्णतया प्रतीति हो जाय।

हे मित्र सारे संसार में क्या धर्मनीति, क्या राज्यनीति आदि सर्व आधार लिखित पर ही चल रहा है तथा अपने २ धर्मशास्त्र पर निर्भर हैं इस से इस काल में सबके निर्णय करने में कसौटी केवल एक शास्त्र ही है पर शास्त्र ऐसा होना चाहिये जो आप्त (सर्वज्ञ) प्रणीत हो, परस्पर अविरोध वचन हो सर्व प्राणियों का परम हितकारी हो, [आप्तहितोपदेश] जिनका उपदेश हित्त, मित्त, पथ्य, तथ्य, और यथार्थ मय हो

इत्यादि गुणयुक्त शास्त्र प्रवचन ग्रन्थ न्याय सिद्धान्त वेद श्रुति, स्मृति तथा जिनागम आदि नाम से समझना और जिन के पढ़ने से जीव बंध होता हो वह शास्त्र नहीं वरन् एक प्रकार का शस्त्र है। दोषय, इस में और उस में एक मात्रा का अन्तर है शा व श येही अन्तर है इस अन्तर में तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है इस लिये पाठक गण स्वयं ही विचार कर सक्ते हैं और उपरोक्त न्याय सम्पन्न जिसका शास्त्र हो वही शास्त्र पाठकों को माननीय व पठनीय होना चाहिये। इति श्री दशवां तत्त्व परीक्षा विषय समाप्तम्।

शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!